RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452 Raaso
Refreed Journal

रासो

अन्तर्विषयी त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-16, अंक-3, जून जुलाई अगस्त 2023

RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452Raaso
Refreed Journal

रास्तो

इतिहास, संस्कृति, साहित्य एवं दर्शन की त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-16 अंक - 3 जून-जुलाई-अगस्त-2023

सम्पादक
डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

निदेशक
कॉम्पिटिशन प्लस संस्थान, ग्रुप ऑफ इन्स्टीट्यूशन्स, अजमेर (राजस्थान)

संरक्षक

* **प्रो. जे. पी. शर्मा** - पूर्व कुलपति, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान)

सलाहकार मण्डल

* **प्रो. विभा उपाध्याय** - प्रोफेसर, इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज.)
* **नर्मदा प्रसाद उपाध्याय** - प्रसिद्ध साहित्यकार तथा संस्कृति चिंतक, इन्दौर (मध्य प्रदेश)
* **प्रो. टी.के. माथुर** - पूर्व अध्यक्ष, इतिहास विभाग महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय, अजमेर (राज.)
* **डॉ. रमेश अग्रवाल** - पूर्व स्थानीय सम्पादक, दैनिक भास्कर, अजमेर (राजस्थान)
* **डॉ. गौरव बिस्सा** - सहआचार्य, विभागाध्यक्ष, प्रबंधा अध्ययन विभाग, राजकीय अभियांत्रिकी महाविद्यालय, बीकानेर (राज.)
* **डॉ. बीना शर्मा** - पूर्व विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग, सावित्री कन्या महाविद्यालय, अजमेर
* **प्रो. शोभा आर. मिश्रा** - आचार्य एवं विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, माधव महाविद्यालय, उज्जैन
* **डॉ. वेद प्रकाश विद्यार्थी** - पूर्व सहायक निदेशक, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, नई दिल्ली।

☆ उप सम्पादक
डॉ. रीता पारीक
प्राचार्य
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

☆ प्रबन्ध सम्पादक
डॉ. मृत्युंजय शर्मा
सह-आचार्य
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

☆ सहायक सम्पादक
डॉ. निष्काम शर्मा

☆ शब्द संयोजन
मुकेश कुमार माहेश्वरी

☆ सम्पादकीय/सचिव
व्यवस्थापकीय कार्यालय
सृजन संस्थान,
आचमन, वेद विहार,
लोहाखान, अजमेर-06
दूरभाष : 0145-2426610
e-mail : rasoajmjournal@gmail.com

☆ प्रकाशक :
पुष्पा शर्मा
सृजन संस्थान,
द्वारा आचमन पब्लिकेशन्स,
अजमेर

☆ मुद्रक :
मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स,
केसरगंज, अजमेर

☆ कम्प्यूटराइज्ड सेटिंग :
श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स
132, पंचवटी कॉलोनी,
अजमेर दूरभाष : 0145-2442701

सहयोग दर

* वार्षिक सदस्यता - 500 रु. (चार अंक) संस्थाओं हेतु - 600 रु. (चार अंक)
कृपया चैक/ड्राफ्ट/मनीऑर्डर श्रीमती पुष्पा शर्मा, प्रकाशक, आचमन पब्लिकेशन्स, अजमेर- 305006 के नाम भेजें।

प्रकाशक-श्रीमती पुष्पा शर्मा, 51/1509, वेद विहार, लोहाखान, अजमेर द्वारा मैसर्स सृजन संस्थान, अजमेर की ओर से प्रकाशित एवं मुद्रक-श्रीमती उषा गर्ग द्वारा मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स, केसरगंज, अजमेर से मुद्रित।

प्राचीन भारतीय समाज व्यवस्था के प्रमुख तत्व

रतनलाल कुमावत
सहायक आचार्य (शिक्षा विभाग)
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

प्राचीन भारतीय समाज व्यवस्था के प्रमुख तत्त्व धर्म, सामाजिक संगठन, आर्थिक जीवन और सांस्कृतिक मूल्यों पर आधारित थे। धर्म समाज का मूल आधार था, जो केवल पूजा-पाठ तक सीमित न होकर कर्तव्य, नैतिकता और आचरण का मार्गदर्शन करता था। इसी के माध्यम से व्यक्ति और समाज के बीच संतुलन स्थापित किया गया।

वर्ण व्यवस्था समाज की एक महत्वपूर्ण विशेषता थी, जिसका प्रारम्भिक स्वरूप कर्म और गुण पर आधारित था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णों के द्वारा समाज में कार्य-विभाजन सुनिश्चित किया गया। इसके साथ ही आश्रम व्यवस्था ने मानव जीवन को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास के चार चरणों में बाँटकर जीवन को अनुशासित और उद्देश्यपूर्ण बनाया।

परिवार प्राचीन समाज की मूल इकाई था। संयुक्त परिवार प्रणाली प्रचलित थी, जिससे सहयोग, सुरक्षा और संस्कारों का विकास होता था। आर्थिक जीवन का आधार कृषि, पशुपालन, उद्योग और व्यापार थे। ग्राम व्यवस्था आत्मनिर्भर थी और शिल्प व व्यापार के माध्यम से आर्थिक समृद्धि आई।

शिक्षा व्यवस्था गुरुकुल परंपरा पर आधारित थी, जिसका उद्देश्य केवल ज्ञान देना नहीं, बल्कि चरित्र और व्यक्तित्त्व का निर्माण करना था। इस प्रकार प्राचीन भारतीय समाज व्यवस्था एक संतुलित, नैतिक और सुव्यवस्थित सामाजिक ढाँचे के रूप में विकसित हुई।

उद्योग एवं व्यवसाय :

प्राचीन भारतीय समाज व्यवस्था में उद्योग एवं व्यवसाय का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान था। यद्यपि प्रारम्भिक काल में लोगों का मुख्य जीवनाधार कृषि और पशुपालन ही था, तथापि जैसे-जैसे समाज का विकास हुआ, वैसे-वैसे विविध प्रकार के उद्योगों और व्यवसायों का भी विस्तार होता गया। यह विस्तार केवल आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति तक सीमित नहीं रहा, बल्कि सामाजिक संरचना और वर्गीकरण को भी प्रभावित करने लगा। कालान्तर में अनेक व्यवसाय इतने स्थायी और संगठित हो गए कि उन्हीं के आधार पर जातियों का नामकरण होने लगा। चर्म का कार्य करने वाले चर्मकार, तन्तु का कार्य करने वाले तन्तुवाय, सोने के आभूषण बनाने वाले सुनार, लोहे से औजार और हथियार गढ़ने वाले लुहार, लकड़ी का कार्य करने वाले बढ़ई तथा मिट्टी के बर्तन बनाने वाले कुम्भकार जैसे नाम इसी प्रक्रिया के परिणाम थे। धीरे-धीरे इन व्यवसायों से जुड़े लोगों ने अपने-अपने संगठन बनाए, जिससे शिल्पकला, उत्पादन और व्यापार में उल्लेखनीय प्रगति हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय उत्पादों की मांग देश-विदेश में बढ़ी और भारत आर्थिक दृष्टि से समृद्ध होता चला गया।

शोध-पत्र में उल्लिखित सन्दर्भ एवं विचारों के लिए लेखक स्वयं उत्तरदायी है, सम्पादक नहीं।

ऋग्वैदिक काल :

ऋग्वैदिक काल में भी कृषि और पशुपालन आर्यों के मुख्य व्यवसाय थे, किन्तु इसके साथ-साथ अनेक उद्योग-धन्धे भी सक्रिय रूप से प्रचलित थे। ऋग्वेद में तक्ष्मन (बढ़ई), हिरण्यकार (सुनार), कर्मार (धातु शिल्पी), चर्मकार, तन्तुवाय और कुम्भकार जैसे अनेक व्यवसायों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। इससे यह सिद्ध होता है कि उस समय श्रम-विभाजन और शिल्पकौशल का पर्याप्त विकास हो चुका था। इस काल की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि व्यवसाय के चयन में पर्याप्त स्वतंत्रता थी। ऋग्वेद के एक प्रसिद्ध मंत्र में यह कहा गया है कि कोई व्यक्ति शिल्पी है, उसका पिता वैद्य है और माता अनाज पीसने का कार्य करती है। यह उदाहरण दर्शाता है कि व्यवसाय जन्म से कठोर रूप में बंधे नहीं थे और व्यक्ति अपनी रुचि और क्षमता के अनुसार कार्य चुन सकता था।

ऋग्वैदिक काल का वस्त्र उद्योग विशेष रूप से उन्नत अवस्था में था। ऋग्वेद में वस्त्रों के लिए 'वस्त्र', 'वास' और 'वसन' जैसे शब्दों का प्रयोग हुआ है, जो उस समय कपड़ों के व्यापक उपयोग की ओर संकेत करते हैं। वस्त्र निर्माण में ताने-बाने की तकनीक प्रचलित थी, जिसे 'तन्तु' और 'ओतु' कहा गया है। करघे के लिए 'तंत्र' तथा करघी या ढरकी के लिए 'तसर' शब्दों का उल्लेख भी मिलता है। इससे स्पष्ट होता है कि उस समय सूत कातने और वस्त्र बुनने की कला भली-भांति ज्ञात थी। कपड़ा बुनने वाले को 'श्वासोवायश' कहा जाता था, जो इस उद्योग की विशिष्ट पहचान को दर्शाता है।

इस काल में कताई, बुनाई और कढ़ाई का कार्य प्राय: स्त्रियाँ करती थीं। वस्त्र बुनने वाली स्त्री को 'श्वयित्री' और वस्त्रों पर कढ़ाई करने वाली स्त्री को 'पेशस्कारी' कहा जाता था। इससे यह स्पष्ट होता है कि आर्थिक गतिविधियों में स्त्रियों की भूमिका भी महत्वपूर्ण थी। ऋग्वेद में 'कर्पास' अर्थात कपास का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, इसलिए यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि सूती वस्त्रों का प्रयोग होता था या नहीं, परन्तु ऊन का उपयोग व्यापक रूप से होता था। ऊन के लिए 'उर्ण' शब्द का प्रयोग किया गया है।

ऋग्वैदिक काल में परूष्णी और सिन्धु नदियों के आसपास का क्षेत्र तथा गान्धार प्रदेश उत्कृष्ट ऊनी वस्त्रों के लिए प्रसिद्ध था। परूष्णी प्रदेश की ऊन की उत्कृष्टता को दर्शाने के लिए ऋग्वेद में 'शुन्ध्यव' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार गान्धार की भेड़ों का ऊन अपनी चिकनाई और गुणवत्ता के लिए प्रसिद्ध था। इन क्षेत्रों में निर्मित ऊनी वस्त्र दूर-दूर तक व्यापार के लिए भेजे जाते थे। यह व्यापार मुख्यत: सिन्धु नदी के माध्यम से होता था, इसी कारण ऋग्वेद में सिन्धु नदी को 'सुवासा' और 'ऊर्णावती' जैसे विशेषणों से अलंकृत किया गया है। इस प्रकार ऋग्वैदिक समाज में उद्योग, शिल्प और व्यापार न केवल आर्थिक समृद्धि के साधन थे, बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक विकास के भी महत्वपूर्ण आधार थे।

उत्तरवैदिक काल :

उत्तरवैदिक काल में उद्योग-धन्धों और व्यवसायों में ऋग्वैदिक काल की अपेक्षा अधिक उन्नति दिखाई देती है। यजुर्वेद, तैत्तिरीय संहिता और अथर्ववेद में सूत, रथकार, बढ़ई, कुम्हार, लोहार, सुनार, नाई, धोबी, वैद्य, धनुषकार, इषुकार, पशुपालक, व्यापारी आदि अनेक व्यवसायों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। इस काल में धातु-ज्ञान का भी विस्तार हुआ और सोना-चाँदी के साथ-साथ ताँबा, लोहा, सीसा और टीन का प्रयोग होने लगा। सुवर्ण और रजत से आभूषण बनाए जाते थे, जबकि ताँबे और लोहे से अस्त्र-शस्त्र, कृषि उपकरण तथा घरेलू वस्तुएँ तैयार की जाती थीं। धातुकारों को कुशल शिल्पी माना जाता था, जिससे

शिल्पकला की उन्नति का पता चलता है।

वेदोत्तर काल :

वेदोत्तर काल, विशेषत: छठी से चौथी शताब्दी ईसा-पूर्व के बीच का समय, औद्योगिक विकास की दृष्टि से क्रान्तिकारी माना जाता है। इस काल में व्यवसायों का संगठन श्रेणियों में हुआ और अनेक नये पेशे विकसित हुए। पाणिनी ने कुम्हार, बढ़ई, धनुषकार, जुलाहे आदि के कार्यों और उनके सामाजिक स्थान का उल्लेख किया है। वस्त्र उद्योग में विशेष प्रगति हुई और बुनाई के केन्द्र विकसित हुए। ऊनी वस्त्रों के साथ-साथ सूती और रेशमी कपड़ों का निर्माण होने लगा। काशी, मथुरा और अन्य क्षेत्रों के वस्त्र प्रसिद्ध थे, जिससे आन्तरिक और बाह्य व्यापार को प्रोत्साहन मिला।

बौद्ध और जैन ग्रन्थों से इस काल के उद्योग-धन्धों की विस्तृत जानकारी मिलती है। इस समय व्यवसाय प्राय: वंशानुगत हो गए और एक ही पेशे से जुड़े लोग एक ही क्षेत्र में निवास करने लगे। वस्त्रकार, कुम्भकार, रथकार, लोहार, चर्मकार, मालाकार, गंधिक, सुनार और मणिकार जैसे शिल्पी समाज में महत्वपूर्ण स्थान रखते थे। कुम्हारों की कर्मशालाएँ, लोहारों की भट्टियाँ और बुनकरों की तन्तुवायशालाएँ संगठित उत्पादन की ओर संकेत करती हैं। आभूषण, अस्त्र-शस्त्र, कृषि उपकरण, घरेलू वस्तुएँ, वस्त्र, सुगन्धित द्रव्य और रंग-निर्माण जैसे उद्योगों ने इस काल में उल्लेखनीय उन्नति की। इस प्रकार उत्तरवैदिक और वेदोत्तर काल में उद्योग-धन्धों का विकास भारतीय समाज की आर्थिक समृद्धि और सामाजिक संगठन का सशक्त आधार बना।

मौर्य काल :

मौर्य काल में उद्योग और व्यवसाय अत्यधिक विकसित अवस्था में थे। बौद्ध काल में जहाँ उद्योग मुख्यत: श्रेणियों और गृहपतियों के हाथ में थे, वहीं मौर्य काल में राज्य ने प्रमुख उद्योगों को अपने नियंत्रण और प्रबंधन में ले लिया। मेगस्थनीज के विवरण से स्पष्ट होता है कि इस काल में समाज के विभिन्न वर्ग अलग-अलग व्यवसायों द्वारा जीवन-यापन करते थे और शिल्पी कृषकों के लिए आवश्यक औजारों का निर्माण करते थे।

इस काल में धातु उद्योग अपने चरम उत्कर्ष पर था। सोना, चाँदी, ताँबा, लोहा, सीसा, टीन और हीरा आदि खानों से निकाले जाते थे। खानों के संचालन के लिए राज्य द्वारा सुव्यवस्थित प्रशासनिक व्यवस्था स्थापित की गई थी, जिसका प्रधान अधिकारी 'अकाराध्यक्ष' होता था। उसके अधीन लोहाध्यक्ष, खन्याध्यक्ष, लक्षणाध्यक्ष और लवणाध्यक्ष जैसे अनेक अधिकारी कार्य करते थे। लोहे का उपयोग मुख्यत: अस्त्र-शस्त्रों तथा कृषि उपकरणों के निर्माण में होता था, जबकि ताँबे और पीतल से घरेलू बर्तन बनाए जाते थे। समुद्र से मोती, मणि और रत्न निकालने का कार्य भी राज्य के नियंत्रण में था और मणिकार राजकीय कर्मशालाओं में आभूषणों का निर्माण करते थे।

आभूषण निर्माण का व्यवसाय मौर्य काल में अत्यंत उन्नत था। सोने-चाँदी को शुद्ध कर आभूषण बनाने के लिए सुवर्णाध्यक्ष के अधीन विशेष अक्षशालाएँ स्थापित थीं। भारतीयों की अलंकरण-प्रियता का उल्लेख मेगस्थनीज ने भी किया है। सोना और चाँदी न केवल आभूषणों, बल्कि सिक्कों के निर्माण में भी प्रयुक्त होते थे। इस काल में बड़ी संख्या में चाँदी और ताँबे के आहत सिक्के जारी किए गए, जिनका निर्माण सरकारी टकसाल में होता था। सिक्कों की शुद्धता की जाँच के लिए रूपदर्शक नामक अधिकारी

नियुक्त था और जाली सिक्के बनाने पर दंड का प्रावधान था।

नमक को भी एक महत्वपूर्ण खनिज माना जाता था और उसके उत्पादन पर राज्य का पूर्ण नियंत्रण था। लवणाध्यक्ष की अनुमति के बिना नमक बनाना दंडनीय अपराध था। इस प्रकार मौर्य काल में उद्योग-धन्धों का विकास संगठित, राज्य-नियंत्रित और सुव्यवस्थित रूप में हुआ, जिसने मौर्य साम्राज्य की आर्थिक सुदृढ़ता को मजबूत आधार प्रदान किया।

प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था :

कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' से प्राचीन भारतीय समाज और अर्थव्यवस्था में वस्त्र उद्योग के सुव्यवस्थित स्वरूप का स्पष्ट ज्ञान मिलता है। वस्त्र निर्माण के साथ-साथ रंगाई और धुलाई जैसे सहायक उद्योग भी विकसित अवस्था में थे। इस काल में सूती, ऊनी तथा रेशमी—सभी प्रकार के वस्त्र रंगे जाते थे। रंगाई का कार्य करने वाले शिल्पियों को 'रक्तक' कहा जाता था और उनकी मजदूरी धुलाई की दर से दुगुनी निर्धारित थी, जिससे रंगाई उद्योग के महत्व का पता चलता है।

धुलाई का कार्य करने वाले धोबियों के लिए 'अर्थशास्त्र' में 'कारू' शब्द का प्रयोग हुआ है। धोबी लकड़ी के पटरे और चिकनी शिला पर वस्त्र धोते थे। ग्राहकों के कपड़ों की सुरक्षा के लिए कड़े नियम बनाए गए थे। धोबियों के स्वयं के पहनने वाले कपड़ों पर 'मुद्गर' का चिह्न अंकित किया जाता था, जिससे वे ग्राहकों के वस्त्रों का दुरुपयोग न कर सकें। यदि किसी धोबी के पास बिना मुद्गर-चिह्न वाला वस्त्र पाया जाता था, तो उस पर तीन पण का जुर्माना लगाया जाता था। धुले हुए कपड़े को किराये पर देने या बेचने पर बारह पण का दण्ड निर्धारित था। यदि कोई धोबी ग्राहक का वस्त्र बदल देता था, तो उसे मूल वस्त्र लौटाना पड़ता था, अन्यथा वस्त्र के मूल्य का दुगुना दण्ड देना पड़ता था।

वस्त्र-धुलाई की दरें भी निश्चित थीं। उत्कृष्ट वस्त्रों की धुलाई के लिए एक पण, मध्यम वस्त्रों के लिए आधा पण और साधारण वस्त्रों के लिए चौथाई पण निर्धारित था, जबकि मोटे कपड़ों की धुलाई के लिए अनाज के मापक दिए जाते थे। इन नियमों से स्पष्ट होता है कि मौर्य कालीन समाज में वस्त्र-उद्योग न केवल विकसित था, बल्कि उस पर राज्य का कठोर नियंत्रण और सुव्यवस्थित आर्थिक व्यवस्था भी विद्यमान थी।

मौर्योत्तर काल :

मौर्योत्तर काल में उद्योग और व्यवसायों पर राज्य का प्रत्यक्ष नियंत्रण समाप्त हो गया, जिसके परिणामस्वरूप आर्थिक गतिविधियों में उल्लेखनीय विस्तार हुआ। इस काल में शिल्प और व्यवसायों की विविधता मौर्य तथा उससे पूर्व के कालों की तुलना में कहीं अधिक दिखाई देती है। प्रारम्भिक बौद्ध ग्रन्थों और 'अर्थशास्त्र' में जहाँ सीमित संख्या में दस्तकारों का उल्लेख मिलता है, वहीं मौर्योत्तर काल के साहित्य में व्यवसायों की अत्यधिक बहुलता दृष्टिगोचर होती है। दीघनिकाय में 28 प्रकार के व्यवसायों का उल्लेख है, महावस्तु में राजगृह नगर के 36 प्रकार के कामगारों की सूची मिलती है और 'मिलिन्दपन्हो' में तो 75 प्रकार के व्यवसायों का वर्णन किया गया है। पतंजलि ने भी 'महाभाष्य' में अनेक व्यवसायों का उल्लेख कर इस विविधता की पुष्टि की है।

इस काल में रत्न उद्योग अत्यधिक उन्नति पर पहुँचा। विदेशी लेखक प्लिनी ने भारत को 'रत्नधात्री' देश कहा है और यहाँ पाए जाने वाले पन्ना, उत्पल, गोमेद, ओनिक्स, सार्डोनिक्स, कार्नेलियन, एमिथिस्ट और हिसिन्थ जैसे बहुमूल्य रत्नों का उल्लेख किया है। पेरीप्लस के अनुसार भारत में मोती उत्पादन के चार

प्रमुख केन्द्र—ताम्रपर्णि नदी का मुहाना, मनार की खाड़ी, जलडमरूमध्य क्षेत्र और बंगाल—विशेष रूप से प्रसिद्ध थे। जूनागढ़ अभिलेख में शक शासक दामन के राजकोष को हीरे, वैदूर्य और रत्नों से परिपूर्ण बताया गया है। हाथीगुम्फा अभिलेख और अन्य समकालीन साक्ष्य भी बहुमूल्य पत्थरों की व्यापक उपलब्धता की पुष्टि करते हैं।

पतंजलि के अनुसार मणियाँ विभिन्न प्रकार के पत्थरों से प्राप्त होती थीं, इसलिए उन्हें 'आश्म' कहा जाता था। इस प्रकार मौर्योत्तर काल में उद्योग, विशेषत: रत्न एवं मणि उद्योग, अपनी समृद्धि और विविधता के कारण भारतीय अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता रहा।

गुप्तकाल :

गुप्तकाल आर्थिक समृद्धि और वैभव का काल था। इस समय उद्योग-धन्धों और शिल्पकला में विशेष उन्नति हुई। वस्त्र उद्योग अपने चरम पर था; सूती, ऊनी और रेशमी सभी प्रकार के वस्त्र बनते थे। 'अमरकोष' में चार प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख है—बाल्क (छाल से बने), फाल (फल के रेशे से बने), कौशेय (रेशमी) और रांकव (पश्मीना)। वस्त्र उद्योग के प्रमुख केन्द्र गुजरात, बंगाल, तमिल, बनारस और मथुरा थे। रेशमी वस्त्र मुख्यत: विवाह और धार्मिक उत्सवों में प्रयुक्त होते थे। रघुवंश से ज्ञात होता है कि तन्तुवाय इतने निपुण थे कि उनके वस्त्र बहुत हल्के और सुंदर होते थे। वराहमिहिर ने श्वज्रलेप का उल्लेख किया है, जिससे स्पष्ट होता है कि रसायनिक रंगाई की विधियाँ भी प्रचलित थीं।

धातु उद्योग इस काल में अत्यधिक विकसित था। खानों और धातु उद्योग से सोना, चांदी, लोहा, तांबा, पीतल, सीसा, टीन, मैगनीज/शीशेका (अभ्रक), सिन्दुर, मनशिला, गैरिक और शैलेय जैसी धातुएँ प्राप्त होती थीं। लोहार हथौड़ा, छेनियां, कुठार, कुल्हाड़ी, चम्मच, कटार, ताले, दरवाज़े आदि बनाते थे। मेहरौली का लौह स्तम्भ इस काल की धातुकला का अद्वितीय प्रमाण है।

आभूषण निर्माण कला भी उच्चतम स्तर पर थी। सुनार (स्वर्णकार) सोने और चाँदी से नानाविध आभूषण बनाते थे, जैसे नूपुर, करधनी, कर्णाभूषण, हेमवैकक्ष्यक और अंगूठी। चाँदी और तांबे से पात्र, बर्तन, मूर्तियाँ और मुहरें बनाई जाती थीं। मणियों का भी व्यापक प्रयोग होता था; हीरा, नीलम, पन्ना, माणिक, वैदूर्य, जम्बुमणि, मोती, प्रवाल, गोमेद आदि आभूषणों, मुहरों, पोशाकों, फर्श, दरवाज़ों और सजावटी वस्तुओं में प्रयुक्त होते थे। गुप्तकाल में उद्योग और व्यवसायों की विविधता, वैज्ञानिक धातु-ज्ञान, वस्त्र और आभूषण उद्योग की उत्कृष्टता ने समाज और अर्थव्यवस्था को अत्यंत समृद्ध और सुसंगठित रूप दिया।

पूर्वमध्यकाल :

पूर्वमध्यकाल में राजनीतिक अस्थिरता के बावजूद उद्योग और व्यवसायों में अभूतपूर्व विकास हुआ। इस समय वस्त्र उद्योग विशेष रूप से उन्नत था। 'हर्षचरित' के अनुसार राजकुमारी राज्यश्री के विवाह के अवसर पर हल्के और मुलायम सूती, रेशमी और ऊनी वस्त्रों का प्रदर्शन किया गया। ह्वेनसांग ने भारतीय वस्त्रों को रेशमी, सूती, क्षौम और ऊन में विभक्त किया। प्रत्येक वर्ग अपने स्तर के अनुसार भिन्न प्रकार के वस्त्र पहनता था। जालीदार वस्त्रों का निर्माण भी इसी काल में शुरू हुआ। स्त्रियां और पुरुष दोनों वस्त्र उद्योग में कार्यरत थे—पुरुष बुनाई करते थे और स्त्रियां धागा तैयार करती थीं। जुलाहे, दर्जी और रंगरेज भी इसी उद्योग से जुड़े थे।

प्रमुख वस्त्र केन्द्रों में चोलदेश, तोंडमंडल, चिकाकोल, कलिंग, बंगाल, गुजरात, तेलंगाना और मालाबार शामिल थे। बंगाल की मलमल इतनी महीन थी कि अंगूठी के बीच से थान गुजर सकता था। चोल

राज्य भी सूती और रंगीन वस्त्रों के लिए प्रसिद्ध था।

जवाहरात और मणियों का व्यवसाय भी इस काल में प्रगति पर था। 'अग्निपुराण' में 33 प्रकार के रत्नों का उल्लेख है। हीरा, पन्ना, नीलम, माणिक, मोती और वैदूर्य प्रमुख रत्न थे, जिनका उपयोग आभूषणों में होता था। द्रविड़ प्रदेशों से विभिन्न प्रकार के कीमती पत्थर और स्फटिक प्राप्त होते थे। वारंगल क्षेत्र हीरों के लिए प्रसिद्ध था।

वास्तु और शिल्प व्यवसाय चरम सीमा पर था। शिल्पियों द्वारा निर्मित मन्दिर—भुवनेश्वर, खजुराहों, आबू, ओसियां, महाराष्ट्र, कर्नाटक और तमिलनाडु—उनकी कला और निपुणता का प्रमाण हैं। दुर्ग और अन्य स्थापत्य भी भवन निर्माण कला की जानकारी देते हैं। शिल्पकारों के संगठन भी विद्यमान थे; वारेन्द्र में शूलपाणि प्रमुख था।

जहाज और नाव निर्माण का व्यवसाय भी विकसित था। भोज के 'युक्ति कल्पतरू' में विभिन्न प्रकार की लकड़ी की नावों का उल्लेख मिलता है। चोल सम्राट राजराजा और राजेन्द्र प्रथम के शासन में समुद्रपार व्यापार और युद्ध के लिए इसका व्यापक उपयोग हुआ। इसके अतिरिक्त पुरोहित, ज्योतिषी, अध्यापक आदि प्रतिष्ठित व्यवसायों में शामिल थे, जबकि कुम्हार, मालाकार, नाई, तेली, पशुपालक, शिकारी और कसाई जैसी जातियाँ समाज में हीन व्यवसाय करने वालों के रूप में देखी जाती थीं।

निष्कर्षत: प्राचीन भारत में प्रारम्भ में कृषि और पशुपालन मुख्य व्यवसाय थे, बाद में वस्त्र, धातु, चर्म और शिल्प उद्योग विकसित हुए। ऋग्वैदिक काल में बुनाई और धातु उद्योग शुरू हुए, उत्तरवैदिक और मौर्य काल में राज्य ने उद्योगों को व्यवस्थित किया। गुप्तकाल में वस्त्र, धातु, आभूषण और मुद्रण उद्योग अपने शिखर पर थे। पूर्वमध्यकाल में राजनीतिक अस्थिरता के बावजूद वस्त्र, जहाज, शिल्प और मणि-रत्न व्यवसाय फल-फूल रहे थे। अत: प्राचीन भारत में कृषि से प्रारम्भ होकर उद्योग, व्यापार और शिल्प उद्योगों के माध्यम से समाज और अर्थव्यवस्था अत्यंत समृद्ध हुई।

ꕥꕥꕥ

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. *Dr. Abdul Sabahuddin & Dr. Rajshree Shukla, History of Ancient Indian Economy, Global Vision Publishing House, 2nd Edition, 2019*
2. *Santosh K. Das, Economic History of Ancient India, Cosmo Publications, 2006*
3. *Ram Sharan Sharma, Indian Feudalism, Macmillan Publishers India Ltd., 3rd Revised Edition, Delhi, 2005*
4. *Damodar Dharmananda Kosambi, An Introduction to the Study of Indian History, Popular Prakashan, 2012*
5. *Gadhwa Stone Inscriptions — Rakhal Das Banerji, The Age of the Imperial Guptas, Calcutta University Lectures, 1993*
6. *गुप्ता, देवेन्द्र कुमार, प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था, न्यू भारतीय बुक कार्पोरेशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2004*